अनावश्यक हिंसा

सभी तीर्थंकर भगवन्तों ने संसार के सब सूक्ष्म-स्थूल जीवों की रक्षा (हिंसा न करना) और दया (दुःखी जीव का दुख मिटाना) के लिए प्रवचन दिया है। सब धर्मो का सार भी यही है कि दण्ड (जीव-हिंसा) दुख-रूप है और दण्ड त्याग (अहिंसा) सुख-रुप है।

चूंकि यह सारा संसार सूक्ष्म-स्थूल जीवों से ठसाठस भरा है, इसलिए साधु-साध्वी को छोड़कर, गृहस्थ लोगों (श्रावक-श्राविका, सम्यक्त्वी या अन्य) के लिए सभी जीवों की हिंसा का परिपूर्ण त्याग शक्य नहीं है, फिर भी शक्ति-अनुसार जीव-हिंसा को टालना चाहिए।

शास्त्रकारों ने जीव-हिंसा के दो भेद किए हैंः अर्थहिंसा और अनर्थहिंसा। आवश्यक प्रयोजन के लिए की जाने वाली हिंसा अर्थहिंसा है, यथा-अपने लिए मकान बनाना, सचित जल का प्रयोग करना, भोजन हेतु आग जलाना, सब्जी काटना आदि। जिस हिंसा के पीछे कोई हेतु (कारण, उदेश्य) न हो, व अनर्थ हिंसा है, यथाः हरी घास पर सैर करना, फूल तोड़ना, नाली में या पेड़ों पर पत्थर फैंकना, मधुमक्खी आदि के छते में आग लगाना आदि।

हिंसा टालने के क्रमवार चरण

1. भ्रुण हत्या न करना/न कराना/न समर्थन करना। 2. मांसाहार नहीं करना। 3. अण्डा नहीं खाना। 4. मांस या अण्डे ये युक्त पदार्थ नहीं खाना। 5. चमड़े के जूत/चप्पल/सैण्डल एवं अन्य सामान का प्रयोग नहीं करना। 6. रेशम के वस्त्र नहीं पहनना। 7. कीड़ी, मच्छर, कोक्रोच, दीमक आदि को मारने के लिए दवा नहीं छिड़कना। 8. शहद का प्रयोग नहीं करना। 9. चांदी के वर्क लगी वस्तु नहीं खाना। 10. स्थावरकायः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति काय की हिंसा नहीं करना।

इस क्रम से चलें और अपने जीवन से हिंसा को कम/समाप्त करते जायें।

हिन्दू कलैण्डर और जैन पर्व

महीना	जैन पर्व (त्यौहार)
चैत्र	महावीर-जयन्ती
वैशाख	अक्षय-तृतीया
ज्येष्ठ	
आषाढ	चातुर्मासी-पर्व
श्रावण	रक्षा-बन्धन
भाद्रपद	पर्युषण व दशलक्षण
आश्विन	आयम्बिल ओली
कार्तिक	वीर-निर्वाण-दिवस चातुर्मासी-पर्व
मार्गशीर्ष	
पौष	पार्श्व-जयन्ती
माघ	
फाल्गुन	चातुर्मासी-पर्व

प्रिय विद्यार्थियों! समय की गणना सैकण्ड, मिन्ट, घण्टा, दिन, सप्ताह, मास और वर्ष के द्वारा की जाती है। भारतवर्ष की प्राचीन पद्धति में काल-गणना पल, घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग के आधार से होती थी। विश्व में विभिन्न समयों और भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक प्रकार के कलैण्डर प्रचलित हुए। ये सभी उस-उस समय की विशिष्ट घटनाओं की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए शुरु हुए। इस समय संसार में सर्वाधिक प्रचलित कलैण्डर ग्रीगेरियन है, जो जनवरी, फरवरी आदि के रूप में काल-गणना करता है। इसे English कलैण्डर भी कहते हैं। कुछ अन्य प्रचलित कलैण्डर ये हैं:—

1. **आर्य संवत्**— सृष्टि की रचना के प्रारम्भ से लेकर।
2. **वीर संवत् या जैन संवत्**— 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के उपलक्ष्य में। यह ईसा से 527 वर्ष पूर्व शुरू हुआ।
3. **विक्रम संवत्**— उज्जयिनी-सम्राट् वीर विक्रमादित्य के राज्य— सिंहासनारोहण के उपलक्ष्य में ईसा-पूर्व 57 में शुरू।
4. **शक संवत्**— ईसा के 78 वर्ष बाद शुरू।
5. **हिजरी संवत्**— पैगम्बर हजरत मुहम्मद की मक्का से मदीना की यात्रा (हिज़्र) के उपलक्ष्य में ईसा के 579 वर्ष बाद शुरू।

भारतवर्ष में सभी धार्मिक व सांस्कृतिक पर्व विक्रम संवत् के आधार पर मनाए जाते हैं।

हर प्रकार के शुभ कार्य, विवाह, गृह-प्रवेश, उपनयन, क्रिया-कर्म आदि भी इसी के आधार पर आयोजित होते हैं। यह संवत् अंग्रेजी कलैण्डर के अनुसार मार्च या अप्रैल में शुरु होता है। इसमें 12 मास होते हैं, जिनके नाम ये हैं:— 1. चैत्र 2. वैशाख 3. ज्येष्ठ 4. आषाढ 5. श्रावण 6. भाद्रपद 7. आश्विन 8. कार्तिक 9. मार्गशीर्ष 10. पौष 11. माघ 12. फाल्गुन

प्रत्येक मास के दो पक्ष (विभाग) होते हैं, जो 15-15 दिन के होते हैं। प्रथम पक्ष कृष्ण-पक्ष या बदी कहलाता है और दूसरा पक्ष शुक्ल-पक्ष या शुदी। इन दोनों पक्षों की तिथियां एकम्, दूज, तीज आदि कहलाती है। शुक्ल पक्ष की 15वीं तिथि पूर्णिमा और कृष्ण पक्ष की 15वीं तिथि अमावस्या कहलाती है। शुक्ल पक्ष की रात्रि में चन्द्रमा क्रमशः बढ़ता रहता है और कृष्ण पक्ष में क्रमशः घटता जाता है। पूर्णिमा को चन्द्रमा पूरा गोल दिखता है, अमावस्याा को चन्द्रमा बिल्कुल भी दिखाई नहीं देता।

विक्रम संवत् चैत्र शुक्ला एकम् से शुरु होता है और चैत्र कृष्णा अमावस्या को समाप्त हो जाता है। समस्त जैन पर्व भी विक्रम संवत् के आधार से ही मनाए जाते हैं। कुल प्रमुख जैन पर्व ये हैं-

1. **महावीर-जयन्ती**– चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को। इस दिन बिहार प्रान्त के क्षत्रिय कुण्डग्राम में राजा सिद्धार्थ व रानी त्रिशला के घर 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का जन्म हुआ।

2. **अक्षय-तृतीय**– वैशाख शुक्ला तृतीया को। इस दिन प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का, दीक्षा-ग्रहण के एक वर्ष चालीस दिन के बाद, हस्तिनापुर नगर में, युवराज श्रेयांस कुमार के हाथ से, इक्षुरस के द्वारा पारणा हुआ।

3. **पर्यूषण-पर्व**– भाद्रपद कृष्णा 13 से भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक आठ दिन निरन्तर मनाए जाते हैं। जैन लोग इन आठ दिनों में विशेष धर्माराधना, जप, तप आदि करते हैं। आठवां दिन 'महापर्व संवत्सरी' कहलाता है, जिसे क्षमापर्व भी कहते हैं। इस दिन जीव-मात्र से अपनी भूलों के लिए क्षमा ली और दी जाती है। दिगम्बर सम्प्रदाय में पर्यूषण-पर्व न मनाकर 'दस लक्षण पर्व' मनाए जाते हैं, जो भाद्रपद मास की पंचमी तिथि से प्रारम्भ होकर चतुर्दशी को समाप्त होते हैं। चतुर्दशी तिथि को 'अनन्त चतुर्दशी' बोलते हैं।

4. **दीपावली**– कार्तिक कृष्णा अमावस्या को। इस दिन पावापुर नगरी में भगवान महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ था। उनके भाव-आलोक (दिव्य ज्ञान) की स्मृति में वहां उपस्थित अनेक राजाओं ने अगले दिन द्रव्य-आलोक (दीप-माला) किया था, उसी स्मृति में यह पर्व मनाते हैं।

विशेषः– जैन साधक अपने पर्वों को खान-पान, मौज-शौक, सैर-सपाटा एवं आतिशबाजी आदि से आडम्बर-पूर्वक न मनाकर विशेष तप, जप एवं त्याग-साधना द्वारा मनाते हैं।

जैन तप-विधि

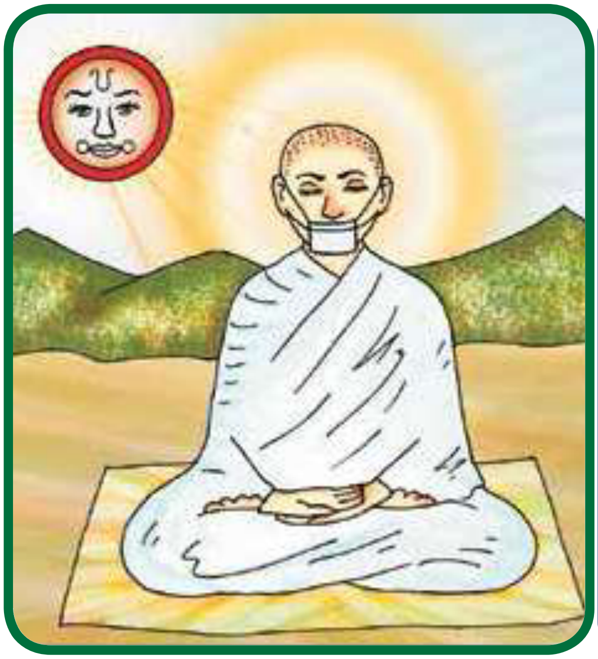

प्रिय विद्यार्थियों! आप जानते ही है कि जैन-साधना-पद्धति बड़ी कठोर है। इसमें शरीर की सुविधाएं और संसार के ऐशो-आराम का त्याग किया जाता है। यह शरीर को साधना की भट्टी में तपाकर सच्चा आत्मिक वैभव प्राप्त करने की प्रक्रिया है। कई विचारकों ने कहा है कि जैनों की तपस्या हाडों की लड़ाई है अर्थात् इसे करने के लिए ऊपर से नीचे तक शरीर का पूरा जोर लगाना पड़ता है। जैन शास्त्रों में अनेक प्रकार की तपस्याओं का वर्णन आता है, यथा

1. **रात्रि-चौविहार–** सूर्यास्त के पश्चात् सम्पूर्ण रात्रि तक कुछ भी न खाना, न पीना।
2. **नवकारसी–** सूर्योदय के पश्चात् 48 मिनट तक कुछ भी नहीं खाना-पीना।
3. **पौरसी–** सूर्योदय के पश्चात् एक प्रहर (दिन का 1/4 भाग) तक कुछ भी न खाना-पीना।
4. **एकाशना–** दिन में केवल एक बार, एक जगह बैठकर भोजन करना। पहले और बाद में प्रासुक पानी पी सकते हैं।
5. **एकल ठाण–** दिन में केवल एक बार, एक ही जगह बैठ कर भोजन और जल ग्रहण करना।
6. **आयम्बिल–** घी एवं नमक- रहित चने, रोटी या मुरमुरे (चावल के परमल) पानी में भिगोकर दिन में केवल एक बार खाना। पहले और बाद में पानी पी सकते हैं।

7. **उपवास**— दिन-भर केवल पानी के सिवाय, सभी प्रकार के खाद्य, पेय पदार्थों का त्याग करना।

8. **पौषध**— सम्पूर्ण दिन (24 घण्टे) सामायिक की वेषभूषा में उपवास करना।

दो दिन तक पूर्वोक्त एकाशन आदि करने को बेला (यथा-एकाशना का बेला), तीन दिन के लिए तेला, 5 दिन को पचौला, आठ दिन की अठाई, एक मास तक करने को मास-खमण कहते हैं। सम्पूर्ण एक वर्ष तक एक दिन उपवास, एक दिन पारणा (भोजन करना) करने को वर्षीतप कहते हैं। कई साधक कई-कई वर्ष तक वर्षीतप की साधना करते हैं।

9. **संथारा**— जब साधक का शरीर सर्वथा असमर्थ हो जाए, उठने, बैठने आदि आवश्यक क्रियाएं करने में भी पीड़ा का अनुभव करने लगे तथा जीवन का अन्तिम क्षण समीप दिखाई देने लगे, तब जीवन-भर के सभी दोषों/पापों की आलोचना करके, सब जीवों से अपनी भूल-चूक की क्षमा-याचना करके, सब प्रकार के भोजन (या पानी भी) का त्याग करके, मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए रहना संथारा कहलाता है। जैन इतिहास में 1, 2, 3 दिन से लेकर 1, 2 या 3 मास तक के संथारों का विवरण मिलता है। सन् 1987 में सोनीपत मण्डी में घोर तपस्वी श्री बदरी प्रसाद जी म. ने 72 दिन का ऐतिहासिक संथारा किया था।

कई लोग ये कुशंका करते हैं कि संथारा करना आत्महत्या है। यह उनका कोरा भ्रम है। आत्महत्या के मूल में क्रोध या वैर की भावना होती है, भय और बदनामी का डर होता है या फिर अतृप्त काम-वासना का प्रसंग रहता है। इसके विपरीत संथारा मृत्यु की एक अति उत्तम कला है। इसमें किसी प्रकार की लालसा, भय या जोर-जबरदस्ती की भावना नहीं होती। प्रत्येक जैन साधक प्रतिदिन, मृत्यु का क्षण आने पर, संथारा प्राप्त करने की उत्तम भावना (मनोरथ) भाता है।

जैन शास्त्रों में दूसरे प्रकार से भी तप के दो भेद किए गए हैं— 1. बाह्य तप (शरीर द्वारा साध्य) 2. आभ्यन्तर तप (मन द्वारा साध्य) बाह्य तप के 6 भेद हैं— 1. अनशन (भोजन का त्याग), 2. ऊनोदरी (भूख से कम खाना), 3. भिक्षाचरी (भिक्षा में या थाली में जो आए, समभाव से खाना), 4. रस-परित्याग (भोजन में रस लेकर न खाना), 5. काय-क्लेश (अनेकविध आसनों व सर्दी-गर्मी की आतापना से शरीर को साधना), 6. प्रतिसंलीनता (शरीर व इन्द्रियों को वश में रखना)। आभ्यन्तर तप के भी 6 भेद हैं- 1. प्रायश्चित (त्रुटि/अपराध का दण्ड स्वीकार करना), 2. विनय, 3. वैयावृत्य (सेवा), 4. स्वाध्याय (धर्मग्रन्थों का अध्ययन), 5. ध्यान, 6. व्युत्सर्ग (शरीर कषाय, उपकरणों का त्याग)

भगवान ऋषभदेव

जैन परम्परा में काल के दो भाग किए गए हैं— उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। उत्सर्पिणी में जीवों की आयु, अवगाहना (कद) व शक्ति में तथा प्रकृति के वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श गुण में क्रमशः उन्नति होती है। प्रत्येक काल-विभाग में छह-छह आरे (विभाग) होते हैं। वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पांचवां विभाग (दुःषमा आरा) चल रहा है। तीसरे काल-विभाग की बात है। कुलकर नाभि के घर माता मरुदेवी की कुक्षि से ऋषभदेव का जन्म हुआ। ऋषभ कुमार बड़े हुए। उन्होंने सुमंगला और सुनन्दा के साथ विवाह किया। सुमंगला के एक कन्या ब्राह्मी और भरत आदि 99 पुत्र हुए। सुनन्दा ने एक पुत्री सुन्दरी और एक पुत्र बाहुबली को जन्म दिया।

भगवान ऋषभ के समय में न समाज था, न कोई स्वामी था और न कोई सेवक। कल्पवृक्षों से लोगों के जीवन की आवश्यकताएं पूरी हो जाती थी। अधिकांश लोग अरण्यवासी थे। ऋषभदेव उस युग के प्रथम राजा बने। उनकी जन्मजात प्रतिभा से लोग नए युग के निर्माण में जुट गए। अनेक नगर बसाए गए। लोग अरण्यवास छोड़कर नगरों में रहने लगे। उन्होंने लोगों को असि (सुरक्षा), मसी (व्यवसाय), कृषि (खेती), सेवा आदि कर्त्तव्यों का निर्देश दिया। अपने पुत्र भरत को 72 कलाएं सिखाई। अपनी पुत्री ब्राह्मी को 18 लिपियों और सुन्दरी को गणित आदि का अध्ययन करवाया। विश्व इतिहास में स्त्री-शिक्षा और नारी-आत्मनिर्भरता का ये प्रथम प्रयास था। प्रभु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से सब लोग अपने-अपने कार्यों में दक्ष बन गए और सुखपूर्वक रहने लगे। उन्होंने लम्बे समय तक राज्य किया। अन्त में अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्यों का भार सौंपकर मुनि बन गए।

भगवान के साथ चार हजार अन्य पुरुषों ने भी दीक्षा ली। परन्तु वे सभी कठोर जैन-साधना का पालन नहीं कर सके, अतः जैन साधु का वेष छोड़कर अन्य साधु-संन्यासियों के वेष में रहने लगे।

चूंकि वह समय धर्म, सभ्यता और संस्कृति का आदिम युग था, अतः जैन साधुओं को भिक्षा-दान की विधि को कोई नहीं जानता था। प्रभु ऋषभ भी निरन्तर एक वर्ष तक भिक्षा-हेतु इधर-अधर घूमते रहे। कोई उन्हें हीरे-मोती, कोई उन्हें हाथी-घोड़े, कोई उन्हें महल-बावड़ी, कोई उन्हें दास-दासी, यहां तक कि कोई-कोई तो उन्हें अपने पुत्र-पुत्रियों को भी भेंट में देने लगता था, पर प्रभु ने कोई वस्तु ग्रहण नहीं की। अन्त में 13 महीने 10 दिन की निर्जल, निराहार साधना के पश्चात् वैशाख सुदी तृतीया (अक्षय तृतीया) के दिन हस्तिनापुर में युवराज श्रेयांस कुमार

के हाथों से इक्षुरस के द्वारा प्रभु का पारणा हुआ।

कुल एक हजार वर्ष की साधना के बाद प्रभु ऋषभ को कैवल्य प्राप्त हुआ। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर वे इस युग के प्रथम तीर्थंकर हुए। उनके 98 पुत्रों ने राज्य का त्याग कर उन्हीं के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। भरत, बाहुबली, ब्राह्मी, सुन्दरी ने भी संयम ग्रहण किया। सभी ने केवल ज्ञान प्राप्त कर अपनी आत्मा का कल्याण किया। भगवान ऋषभ एक लाख पूर्व वर्ष तक श्रामण्य (साधु-धर्म) का पालन कर निर्वाण का प्राप्त हो गए।

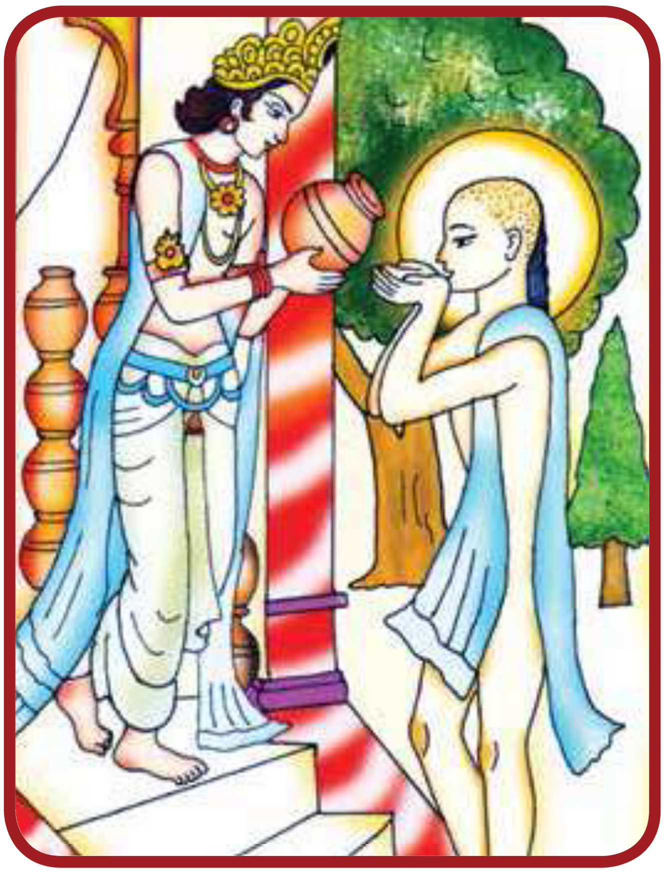

भगवान ऋषभदेव के 84 गणधर, 84,000 साधु व ब्राह्मी, सुन्दरी आदि 3,00,000 साध्वियाँ, श्रेयांस आदि 3,05,000 श्रावक, सुभद्रा आदि 5,54,000 श्राविकाएं थीं।

भगवान ऋषभदेव जैन धर्म के ही नहीं विश्व की विभूति थे। वैदिक धर्म में भी ऋषभदेव को अवतार माना गया है। भगवान ऋषभदेव को श्रीमद् भागवत गीता (5/4/14) में साक्षात् ईश्वर कहा है। ऋगवेद, विष्णुपुराण, अग्नि पुराण, भागवत आदि वैदिक साहित्य में भी उनका गुण कीर्तन आदर के साथ किया जाता है।

लोकाशाह एवं पांच धर्म सुधारक

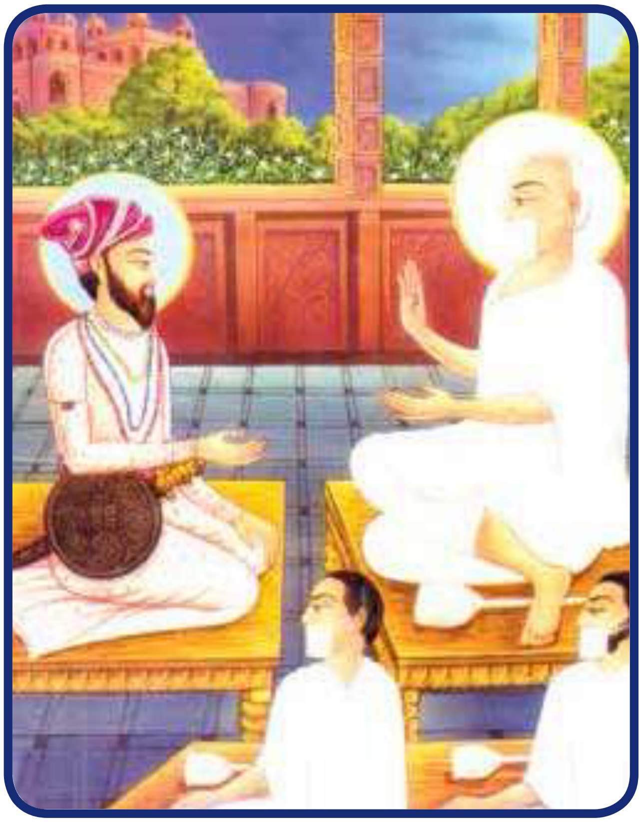

विक्रम संवत् के प्रारम्भ से 470 वर्ष पूर्व (ईसा से 527 वर्ष पूर्व) चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ। वीर-निर्वाण सं. 64 तक केवली-काल रहा। आर्य जम्बू अन्तिम केवली थे। वीर सं. 64 से सं.170 तक श्रुत-केवली-काल (14 पूर्वधारी रहा)। आर्य भद्रबाहु अन्तिम श्रुत-केवली थे। वीर सं. 1000 तक सामान्य पूर्वधर-काल रहा। इसके पश्चात् पूर्वो का विच्छेद हुआ। वीर सं. 980 से 993 तक 13 वर्षों में बलभी नगरी में आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण के नतृत्व में 84 जैन आगमों का वाचनापूर्वक लेखन हुआ।

वीर-निर्वाण 1000 से 2000 तक मुनि-परम्परा की निर्मल गंगा-धारा शिथिलाचार के पंक से दूषित हो गई। चैत्यवास (मठ में रहना) का प्रचार बढ़ने तथा विभिन्न राजाओं का आश्रय मिलने से अनगार मुनि भी मठधारी बन गए और अनेकविधि यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र, डोरे, ताबीजों में उलझकर सोना, चांदी, छत्र, चंवर, पालकी आदि की चकाचौंध में फंस गए। वीर नि. 2001 (वि.सं. 1531) में अहमदाबाद में धर्म-प्राण लोकाशाह ने भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जैन धर्म का प्रचार किया। उन्होंने मूर्तिपूजा, स्थापनाचार्य और पालकी आदि ग्रहण करने का विरोध करके यति-वर्ग (उस समय के भेषधारी साधु) की जड़ों पर प्रहार किया। थोड़े समय में

ही उनके 400 शिष्य तथा लाखों अनुयायी हो गए। अहमदाबाद से दिल्ली तक उनके द्वारा प्ररुपित धर्म का डंका बजने लगा।

लोकाशाह ने जो धर्म-क्रान्ति की प्रचण्ड-ज्योति प्रज्जवलित की थी, उनके निधन के 100 वर्ष बाद, उन जैसे प्रखर नेतृत्व के अभाव में, वह फिर मन्द पड़ने लगी। तब विक्रम संवत् 17वीं शताब्दी के उत्तरा में स्थान-स्थान पर पांच धर्म-सुधारक हुए। उन्होंने तत्कालीन मुनियों में आ रही शिथिलाचारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह किया। स्वयं शास्त्र-विहित मुनिचर्या का पालन किया और करनी-कथनी में एकरुपता लाते हुए शास्त्रें का सच्चा ज्ञान समाज के समक्ष प्रस्तुत किया।

आज भारत-वर्ष के स्थानकवासी समाज में लगभग 4000 साधु-सतियां हैं, उन सबका मूल ये पांच महापुरुष ही हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1. **पूज्य श्री जीवराज जी म.–** इनका जन्म सं. 1638 में सूरत में हुआ। सं. 1654 में जगाजी यति के पास दीक्षा ली। आगम पढ़ने पर अन्तर्ज्ञान के नेत्र खुले। यति-जीवन से खिन्न होकर सं. 1666 में 5 साधुओं के साथ पुनः शुद्ध पंच-महाव्रत की दीक्षा ली। इन्होंने समाज में 32 आगम, डोरा-सहित मुखवस्त्रिका की दृढ़तापूर्वक स्थापना की। सं. 1698 के आसपास आगरा में इनका देवलोकगमन हुआ। आधुनिक काल में श्री फूलचन्द जी 'पुप्फभिक्खू', तपस्वी श्री रूपचन्द जी म. (जगरावां समाधि), आ. देवेन्द्र मुनि, कवि चन्दन मुनि 'पंजाबी' तथा अनुयोग-प्रवर्तक कन्हैयालाल जी म. 'कमल' आदि इनकी परम्परा में आते हैं।

2. **आचार्य धर्म सिंह जी म.–** इनका जन्म सौराष्ट्र-प्रान्त के जामनगर शहर में सं. 1687 में हुआ। शिव जी यति के पास दीक्षा ली। थोड़े ही समय में 32 आगम, तर्क, व्याकरण तथा साहित्य पढ़े। गुरु के आडम्बर-पूर्ण जीवन से विरक्त होकर सं. 1701 में क्रियोद्धार करके पुनः शुद्ध संयम ग्रहण किया। पूर्व-परीक्षा के तौर पर दिल्ली-दरवाजे के बाहर दरियाखान पीर की दरगाह में एक रात रहे। रातभर ध्यान, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग में लीन रहकर उस पीर को प्रतिबोधित किया। इसीलिए इनकी संप्रदाय 'दरियापुरी' के नाम से जानी जाती है। प्रारम्भ से आज तक इसमें केवल एक ही पाट (उत्तराधिकार) चलता रहा। सं. 1728 में इनका निधन हो गया।

3. **आचार्य श्री धर्मदास जी म.–** अहमदाबाद के पास सरखेज ग्राम में सं. 1701 में इनका जन्म हुआ। पहले 'एकल-पात्रिया' पन्थ में दीक्षा ली, पर यतियों के शिथिलाचारी जीवन से क्षुब्ध होकर सं. 1716 में पुनः शुद्ध दीक्षा ली। सं. 1721 में उज्जैन में आचार्य बने। इनका प्रभाव बड़ा व्यापक था। कच्छ, काठियावाड़, सौराष्ट्र, बांगड़, खानदेश, पंजाब, मेवाड़, मालवा, हाड़ौती, ढुंढार आदि प्रान्तों में

भ्रमण किया। आपके 99 शिष्य थे। सं. 1772 में आपने अपनी संप्रदाय को 22 टोलों में विभक्त किया। ये 22 टोले इतने प्रसिद्ध हुए कि सम्पूर्ण स्थानकावासी साधुओं के ही पर्याय बन गए, परन्तु जैसा कि इस लेख में स्पष्ट है, सम्पूर्ण स्थानकवासी साधु 22 टोलों में परिगणित नहीं है। अन्य चार महापुरुषों की शिष्य-परम्परा इन 22 टोलों से भिन्न है। 22 टोलों में 5 शिष्यों की आगे परम्परा चली। श्री मूलचन्द जी म. से गुजरात की अधिकांश सम्प्रदाएं निकली। आ. हस्तीमल जी म., तपस्वी श्री चम्पालाल जी म., उपा. कवि अमरमुनि जी म. आदि की सम्प्रदाय इसी के अन्तर्गत आती हैं।

4. पूज्य श्री हरजी ऋषि जी म.– इनका पूरा परिचय प्राप्त नहीं है। इनकी सम्प्रदाय बाद में कोटा-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई। उन दिनों इसमें 26 प्रखर पण्डित मुनिराज एवं एक पण्डिता साध्वी थी। वि.सं. 1785 में इन्होंने क्रियोद्धार किया। इनकी परम्परा में वर्तमान में खद्दर-धारी श्री गणेशीलाल जी म. एवं आचार्य-प्रवर श्री नानालाल जी म. की परम्परा आती हैं।

5. पूज्य श्री लवजी ऋषि जी– ये भगवान् महावीर के 76 वें पाट पर विराजे। अपने माता-पिता की एकमात्र संतान थे। बचपन में ही इनके पिता का देहान्त हो गया था, अतः अपनी मां फूलांबाई के साथ सूरत में अपने नाना वीरजी वोरा के यहां रहते थे। माता फूलांबाई की उत्कट धर्म-निष्ठा का रंग बालक लवजी पर भी चढ़ा और उन्होंने सं. 1667 में वज्रांत यति के पास दीक्षा ले ली। आगामों का गहन अध्ययन किया। संयम के प्रति रुचि जगी। सं. 1694 में यति-धर्म से पृथक् होकर शुद्ध दीक्षा ली। यतियों ने षड्यन्त्र के तहत, एक हलवाई की स्त्री द्वारा बहराए विषैले लड्डू खाने से प्राण दे दिए। इनके कुछ शिष्य गुजरात, मालवा आदि में विचरे। आ. श्री आनन्द जी म. इनकी इसी शाखा में आते हैं। आ. लवजी ऋषि के पौत्र शिष्य श्री हरिदास ऋषि जी पंजाब-प्रान्त में विचरे। उत्तर-भारत के अधिकांश साधु/सती इनकी इसी शाखा में आते हैं।

आ. श्री अमरसिंह जी म., आ. सोहनलाल जी म., आ. आत्माराम जी म., संयम-सुमेरू श्री मयाराम जी म., व्याख्यान-वाचस्पति श्री मदनलाल जी म., गुरुदेव श्री सुदर्शन लाल जी म., तपोधनी श्री बदरीप्रसाद जी म., गणाधार श्री प्रकाश मुनि जी म., संघनायक शास्त्री श्री पद्म चन्द्र जी म., संघाधार श्री विनयचंद्र जी म., बहुश्रुत श्री जयमुनि जी म., संघसंचालक श्री नरेशमुनि जी म. इस परम्परा के उल्लेखनीय महामुनिराज हैं।